शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ११

'तू भी चल हमारे साथ मोक्ष में!'

सिद्धपुरी की ओर प्रयाण करते हुए साधक संत, भव्य जीवों को संबोधन करके कहते हैं कि—हे सखा! तू भी चल हमारे साथ मोक्ष में! हे मित्र! हमारा उपदेश सुनकर तू भी हमारी भाँति ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि लगा, तथा उग्ररूप से उसका अवलम्बन कर। ध्रुव चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन करते-करते तेरी नौका भी संसार-समुद्र से पार होती हुई मोक्षपुरी में पहुँच जायेगी।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२०२]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मा की महिमा

भगवान अमृतचंद्राचार्य समयसार गाथा १४, कलश १२ में भी कहते हैं कि—शुद्धनय को मुख्य करके ऐसा अनुभव करने से आत्मदेव प्रगट प्रतिभा समान होता है:—

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं-
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

अर्थ—जो सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीनों काल के कर्म बंधन को अपने आत्मा से तत्काल-शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नाश करके अंतरंग में अभ्यास करे—देखे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जाननेयोग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा-व्यक्त (अनुभवगोचर), निश्चल, शाश्वत, नित्य कर्मकलंक पंक (कीचड़) से रहित—स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अंतरंग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी-पर्यायबुद्धि बहिरात्मा-उसे बाहर ढूँढ़ता है, वह महान अज्ञान है ॥१२॥

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ११

धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन और उसकी प्राप्ति का उपाय

[राजकोट में 'नियमसार' गाथा ३८ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(तारीख १०-२-६१, शुक्रवार)

यह 'नियमसार' शास्त्र है। नियमसार अर्थात् आत्मा की निर्मलदशा अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग। निश्चयमोक्षमार्ग किसे कहना चाहिये, वह जीव ने रुचिपूर्वक सुना नहीं है। सत्य श्रवण करके सत्यप्रियता कभी नहीं की, किंतु सत्ताप्रियता की है। सत्ताप्रियता में पुण्य-पाप का अभिमान किया है। पर का तो यह जीव कुछ कर नहीं सकता। वर्तमान में इन्द्रियज्ञान जितना विकास, अल्प बल का प्रगट अंश दिखाई देता है, वही मैं हूँ तथा उतना ही मैं हूँ;—ऐसा मानकर अंश का अभिमान किया है; किंतु अंतर में पूर्ण ज्ञानानन्द भगवान विद्यमान है, उसकी दृष्टि—रुचि कभी एक समयमात्र भी नहीं की है।

आत्मा प्रतिक्षण विचार करे, विकल्प करे कि इस शरीर की क्रिया करूँ; किंतु उससे शरीर की क्रिया हुई तो ऐसा नहीं है। शरीर में लकवा हुआ हो, तब भीतर आत्मा तो रहता ही है; वह इच्छा करे-प्रेरणा करे, तथापि पर में उसकी इच्छानुसार कार्य नहीं होता; क्योंकि वह चैतन्य की क्रिया नहीं है। आत्मा, राग करे अथवा सम्यग्ज्ञान करे—इसप्रकार अपनी अवस्था में परिवर्तन करने की शक्ति आत्मा में है।

पर्याय; परि=समस्त प्रकार से अपने भेद को पाये—प्राप्त करे, उसे पर्याय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय अपनी सत्ता छोड़े बिना (स्व-जाति को न छोड़कर) अवस्थान्तर होता है, उसे पर्याय कहते हैं।

चैतन्य, चैतन्य की और जड़, जड़ की जाति को बनाये रखकर निरंतर अपनी पर्याय करता है, पर की नहीं करता;—ऐसी स्वतंत्र सत् की बात समझना कठिन मालूम होती है। एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है; ऐसा सत्, सो द्रव्य का लक्षण है। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में ऐसा आया है कि आत्मा-परमाणु आदि प्रत्येक द्रव्य के एक समय में तीन अंश सदैव वर्तते हैं। प्रतिक्षण नवीन अवस्था की उत्पत्तिपूर्वक पूर्व पर्याय का व्यय और वस्तु अपनी जाति को बनाये रखकर ध्रुव रहती है। शरीर जड़ है, उसकी कोई भी अवस्था करने की सामर्थ्य जीव में नहीं है।

जड़ और चेतन सभी पदार्थ अपनी पर्यायशक्ति से परिणमित होते हैं; जीव, जड़ का कार्य करता है, इस मान्यता में जीव की महान भूल है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—'भगवान आत्मा अपने सर्व गुणों से सम्पन्न तो अवश्य है, किंतु उसकी वर्तमान पर्याय में अपलक्षणों का पार नहीं है।' वे तो ज्ञानी थे; वर्तमान दशा में पुण्य-पाप, दान, दया आदि की जो वृत्ति उठती है, उससे उनका ज्ञानपिण्ड पृथक होकर उन्हें आत्मसाक्षात्कार हुआ था। वे कहते हैं कि—आत्मा तो शक्तिरूप से परमात्मा समान है, किंतु वर्तमान दशा में उसके दोषों का / अपलक्षणों का पार नहीं है।

कोई किसी की अवस्था को बदल नहीं सकता। सर्वज्ञ परमात्मा हुए, वे एक समय में तीन काल-तीन लोक के सर्व पदार्थों को एक साथ जानते हैं, किंतु किसी की अवस्था को बदल नहीं सकते। आँख भी न हिले, ऐसा लकवा हो जाता है।—इसप्रकार शरीर की स्वतंत्रता, वह उसकी व्यवस्था है; चैतन्यप्रभु उससे भिन्न है। जिसप्रकार पानी से सेवार (काई) भिन्न है और सेवार से पानी भिन्न है; उसीप्रकार आत्मा, शरीर से भिन्न।

गुरु ने शिष्य से कहा कि—पानी में पावभर नमक डालो। फिर दूसरे दिन कहा—उसे ले आओ। हाथ डालकर देखा तो नमक का कोई पता नहीं था; आँखों से भी नहीं दिखता था। फिर गुरु ने कहा कि—चखकर देखो तो मालूम होगा। उसीप्रकार शरीर में चैतन्यमूर्ति आत्मा पृथक् है, वह आँख आदि इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता; किंतु अपने चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा लक्षण से स्पष्ट ज्ञात हो सकता है। देह-मंदिर में ज्ञानपिण्ड ऐसा आत्मा, देह से भिन्न तथा पुण्य-पाप की वृत्ति से भी भिन्न है।

सत्य को ढूँढ़ना-प्राप्त करना हो तो बहुत विचारपूर्वक प्रयत्न द्वारा निर्णय करना होगा। यहाँ आचार्यदेव शुद्धभाव अधिकार का वर्णन करते हैं—शरीर, अजीव है, उसका प्रत्येक रजकण स्वतंत्र है। मृत्यु से पूर्व वाणी रुक जाती है, जीभ नहीं हिलती, तो क्या आत्मा रुक गया ?—नहीं; आत्मा तो है, वह शरीर, वाणी आदि की क्रिया पहले भी नहीं कर सकता था और अब भी नहीं कर सकता। जड़ से भिन्न अपने आत्मा का निर्णय न हो तो उसे क्षणिक विकार से भिन्न ऐसे त्रैकालिक शुद्ध आत्मा का निर्णय कभी नहीं हो सकता।

मैं एक जीव हूँ;—ऐसा विकल्प उठे, वह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। जिसप्रकार नारियल के गोले में सफेदी और मिठास भरी है, उसमें छाल, नरेली या लाली नहीं है, वह तो बाहरी भाग है। उसीप्रकार भगवान आत्मा इस जड़ शरीररूपी छाल में नहीं है; अष्टकर्म जो भाग्य कहलाते हैं, उसमें भी नहीं है। पुण्य-पापरूपी जो लाली है, वह भी आत्मा नहीं है; उन सबसे रहित त्रिकाल शुद्ध ज्ञान-आनन्दमय आत्मवस्तु भीतर विद्यमान है, उसकी दृष्टि करके उसमें लीनता करने से सच्चे आनन्द का स्वाद आता है। आत्मा की वर्तमान दशा में पुण्य-पाप की वृत्ति नई-नई उत्पन्न होती है; वह सम्पूर्ण वस्तु नहीं है और वह आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकती।

आत्मा में सात तत्त्वों के विकल्प उठें, वे मूल पदार्थ में नहीं हैं; वे वर्तमान पर्याय में होने पर भी, उनकी उपेक्षा करनेवाली अंतरस्वभाव की दृष्टि से मूलस्वभाव को देखने पर एकरूप ध्रुवस्वभाव को देखा जा सकता है। नवतत्त्वों के विकल्प की आड़ में—शुभरागरूपी व्यवहार के प्रेम में अंतरतत्त्व दृष्टि में नहीं आता; इसलिये वह शुभराग की वृत्ति भी प्रथम से ही श्रद्धा में से छोड़ना होगी; उसकी उपेक्षा करना होगी। जिसे हित करना हो, स्वतंत्रता प्रगट करना हो, अतीन्द्रिय आनंद के वेदन में आना हो, उसे पराश्रय की—पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर एक सहज स्वाभाविक त्रैकालिक ज्ञायक वस्तु का ही आदर करना चाहिये।

मुनि अपना परिचय देते हैं कि—मैं कैसा हूँ ?—मैं सहज ज्ञानमय वस्तु हूँ; रागमय नहीं हूँ; वैराग्यरूपी शिखर का शिखामणि हूँ तथा पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित हूँ। स्वयं वनवासी भावलिंगी नग्न दिगम्बर मुनि थे; सर्वज्ञ-वीतराग ने जैसा आत्मा कहा है, वैसा ही अंतर अनुभव से जानकर उसमें निश्चल दृष्टि करके बारम्बार उसका अनुभव करते थे। वे स्वयं अपनी वर्तमान दशा बतलाकर अपने स्वभाव की और आनन्द की बात करते हैं; श्मशान वैराग्य की बात नहीं है। 'हाड़ जले ज्यों लाकड़ी, केश जलें ज्यों घास'—ऐसा देखकर, तथा हजारों रुपये का नुकसान आ जाने

पर या घर में क्लेश आदि देखकर वैराग्य धारण करे तो वह वैराग्य नहीं है। अंतर में पुण्य-पाप रहित त्रिकाल ज्ञानानंदघन स्वभाव विद्यमान है, उसकी रुचि, अपेक्षा तथा परभाव की सहज उपेक्षा हो, उसे सहज स्वाभाविक वैराग्य कहा जाता है। हम आत्मा हैं, ज्ञाता-दृष्टा सुखशक्ति का भंडार हैं; पुण्य-पाप की वृत्ति उठे, वह विरुद्धभाव है। जिसे पुण्य-पाप और उनके संयोग में अच्छा-बुरा भासित होता है, उसे वैराग्य नहीं किंतु विषमता है।

आत्मज्ञानी दीपचंदजी साधर्मी 'अनुभव प्रकाश' में लिखते हैं कि—'अरे आत्मा! तेरी अशुद्धता भी बड़ी!' जिसप्रकार-चींटा पैर में चिपकने पर उसे छुड़ाने से टूट जाता है, लेकिन छूटता नहीं है; उसीप्रकार यह आत्मा अज्ञान द्वारा पुण्य-पाप की वृत्ति से ऐसा चिपका है कि—किसी की मानता नहीं। इस काल तो पुण्य को अच्छा मानना चाहिये; व्यवहार की पहले आवश्यकता है; इसप्रकार राग के प्रेम में अन्ध हुआ त्रिकाली अरागी स्वभाव में रुचि नहीं कर सकता। भाई, शांत हो और अनादिकालीन पराश्रयदृष्टि को पलटकर भीतर देख; चिदानंदस्वभाव विकार से भिन्न ही है। इस अनादिकालीन विपरीत पकड़ में हित नहीं है। अपूर्व दृष्टि की महिमा लाव, ध्रुव स्वभाव की दृष्टि होने से ही नित्यानंद के स्वाद सहित सहज स्वाभाविक वैराग्य होता है। टीकाकार मुनि कहते हैं कि—हम ऐसे सहज वैराग्य में वर्तते हैं, हमारा आत्मा ऐसा है। हम समस्त संसार से विमुख—उपेक्षा धारण करनेवाले हैं; तुम भी ऐसी उपेक्षा तथा आत्मा की अपेक्षा द्वारा स्वोन्मुख होओ।

जिसप्रकार कोई शत्रु को मित्र समझकर उससे संबंध स्थापित करे और फिर खबर पड़ने पर बदल जाये; उसीप्रकार अज्ञानी राग-द्वेष-मोह में पड़कर अपने आत्मा को भूल गया था; उससे कहते हैं कि—अब रुचि की करवट बदलकर अंतर में त्रिकाली शुद्ध आत्मा को देख तो अपूर्व आनन्द आयेगा।

और वे मुनि कैसे हैं? कि—देहमात्र परिग्रह के धारक हैं; पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित तथा अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द के विस्तारसहित चिन्मात्र हैं; तू भी अंतर की वस्तुरूप से ऐसा ही है।

आत्मा में स्वभावदृष्टि एवं लीनता होने पर इन्द्रियों की ओर का रागरूप विस्तार रुक जाता है। यह बात अनजान को कठिन मालूम होती है। यह कोई 'बी.ए.' जैसी उच्च भूमिका की बात नहीं है किंतु धर्म का प्रथम सोपान जो सम्यग्दर्शन, उसकी बात है। सम्यग्दर्शन होने पर पुण्य-पाप

का प्रेम उड़ जाता है; अतीन्द्रिय आत्मा पर दृष्टि पड़ती है और उसका विस्तार होता है। अल्प रागादि होने पर भी उनका विस्तार नहीं होता।

खाते-पीते देखते हुए भी जो निरंतर स्वरूप में लीन रहते हैं, वे जैन योगी हैं। पुण्य-पाप की उपेक्षा एवं स्वभाव की सन्मुखता तथा सावधानी जिसने की, उसके इन्द्रियों का विस्तार रुक जाता है। श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि—

''विषयाशा वसातितो निरारंभोऽपरिग्रह।
ज्ञान ध्यान तपः रक्त तपस्वी सः प्रसस्तते॥''

स्वद्रव्य में युक्त हो, वह तीक्ष्ण बुद्धिवान है; पुण्य-पाप में जिन्हें प्रीति है, वे स्थूल लक्ष्यवान हैं। जो बुद्धि आत्मा का घात करे, उसे तीक्ष्ण नहीं कहते। पर से भेदज्ञान करके आत्मा में स्थिर हो, उसे तीक्ष्ण अर्थात् सूक्ष्म बुद्धिवान कहते हैं।

आत्मा ध्रुव चैतन्यवस्तु है। वास्तु-प्रवेश कहाँ होता है कि मकान में होता है; उसीप्रकार अनंत ज्ञान-आनन्द आदि शक्तिरूप गुणों का जिसमें वास है, ऐसा आत्मा ध्रुव वस्तु है। अपरिमित ज्ञान, अनंतदर्शन, अपार सुख, अद्‌भुत वीर्य तथा अनहद सुख-शांति से भरपूर ऐसा यह आत्मा है।—ऐसे स्वद्रव्य को जो ग्रहण करने का काम करती हो, वह तीक्ष्ण बुद्धिवान है।

धर्मात्मा जीव को तीर्थयात्रा, देव-शास्त्र-गुरु की विनय-भक्ति-दानादि के शुभभाव आते हैं, किंतु उन्हें वह धर्म या धर्म का कारण नहीं मानता। जो भाव जैसा है, उसे वैसा ही मानने में आत्मा के ज्ञान की मर्यादा है। बारीक मोती को पकड़ने के लिये सांडसी काम नहीं आती, किंतु स्वर्णकार की चिमटी काम आती है; उसीप्रकार अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मा को पकड़ने में अत्यंत धैर्यवान तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता होती है।

भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानानंदमय है। उसमें शक्तिरूप से जो पूर्ण पवित्र नित्य शुद्धभाव है, उसे यहाँ स्व-द्रव्य कहा गया है। वह आत्मा वास्तव में उपादेय है। उसी का सत्कार-आदर-आश्रय करने योग्य है। मंदकषाय का भाव आये, किंतु वह आदर करने योग्य नहीं है। व्यवहार से निश्चय होता है; प्रथम कषाय मंद हो तो आत्मा का ज्ञान होता है;—ऐसी जिसकी मान्यता है, वह राग के कर्तृत्व के पक्ष में खड़ा है; उसकी रुचि उसी ओर जाती है। वीतरागमार्ग की विधि छोड़कर अविधि से काम करने जाये तो कदापि धर्म नहीं हो सकता। हलवा बनाने की अविधि के दृष्टांतरूप से—कोई स्त्री यह सोचकर कि—पहले घी में आटा सेंकने से बहुत घी की आवश्यकता होगी;

इसलिये पहले पानी में आटा सेककर फिर घी डाले तो हलवा की बात क्या, लूपरी भी नहीं बनेगी... आटा-घी सब बिगड़ जायेगा। उसीप्रकार सुखी होने के उपायरूप धर्म की प्रथम विधि सम्यग्दर्शन है; किंतु कोई मिथ्यारुचिवान कहे कि—पहले तत्त्वज्ञान समझ में नहीं होता-नहीं आता, पहले तो व्रत, तप, दान, पूजादि करो तो उससे लाभ होगा;—ऐसा माननेवाले को पुण्य के फलस्वरूप शरीररूपी फोड़े की प्राप्ति होगी। मंदकषाय से पुण्य होता है किंतु धर्म तीन काल में नहीं होता। पुण्य छोड़कर पाप में जाने की यह बात नहीं है, यहाँ तो पुण्य की मर्यादा समझाते हैं। धर्मी को भी जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक शुभराग—दया, दान, पूजा, भक्ति के भाव आते हैं, किंतु अंतर्दृष्टि में वह उनका आदर नहीं करता; अंतर में स्थिर होने के लिये वे सहायक हैं—ऐसा वह नहीं मानता।

जिसप्रकार तेल पानी के ऊपर तैरता है, किंतु पानी में प्रविष्ट नहीं हो सकता; उसीप्रकार पुण्य-पाप अमुक भूमिका में ज्ञानी के होते हैं किंतु वे स्वभाव में प्रवेश नहीं कर सकते। अंतर में ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेने से भेदविज्ञानरूपी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा जिसने आत्मा को पकड़ा, वह समझता है कि—मेरा स्वरूप अखंड ज्ञानानंद है और वही एक आश्रय करने योग्य है; पुण्य-पाप आश्रय करने योग्य नहीं हैं।

शरीर का सदुपयोग पर के लिये या आत्मा के लिये नहीं किया जा सकता। विपरीत भले ही माने, किंतु जड़-चेतन दोनों तत्त्व त्रिकाल भिन्न ही हैं; दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं। यदि एक से दूसरे का कार्य हो तो दो तत्त्व पृथक् कहाँ रहे ? आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञाता है; शरीर, मन, वाणी से पार है—इसप्रकार भेदज्ञान करके अंतरोन्मुख हो तो आत्मा का सच्चा ज्ञान हो सकता है।

पुनश्च, आत्मतत्त्व कैसा है ? कि औदायिकादि चार भावों से अगोचर है; भावांतर है। उन चार भावों की अपेक्षारहित परम-पारिणामिकस्वभावी भगवान आत्मा है; वे चार भाव उससे पृथक् है। पुण्य-पाप की वृत्ति उठे, वह औदयिक भाव है; त्रैकालिक स्वभाव में उसका अभाव है; वह तो नवीन मलिन पर्याय है। जिसप्रकार पानी में फिटकरी डालने से मैल नीचे बैठ जाता है, उसीप्रकार आत्मा के अंतर ज्ञानस्वभाव को पकड़नेवाली तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा कर्म का मैल नीचे बैठ जाता है, और ऐसी अंशत: निर्मलदशा हो, उसे औपशमिकभाव कहते हैं। औपशमिकभाव तो श्रद्धा-सम्यग्दर्शन और चारित्र की एक समय की पर्याय है, वह त्रैकालिक स्वभाव में नहीं है; उस अंश में पूर्ण त्रैकालिक स्वभाव नहीं आ जाता। जिसप्रकार—सोने की डली की वर्तमान कड़ा-कुण्डल आदि

अवस्था हुई, वे अवस्था कहीं सम्पूर्ण सोना नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में अंतर्दृष्टि होते ही औपशमिकादि अनेक भाव होते हैं, वह अंश है—सम्पूर्ण आत्मा नहीं है।

क्षायोपशमिकभाव अंशतः विकासरूप तथा अंशतः विकाररूप दशा है। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य आदि का क्षायोपशमिकभाव होता है। क्षायिकभाव, वह ज्ञानादि गुणों की पूर्ण निर्मल पर्याय है, उसमें प्रतिपक्षी कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है। वे चारों भाव एक समयमात्र स्थिति के होने से प्रतिसमय बदलते हैं। आत्मा इन चारों भावों से अगम्य है; अर्थात् इन चारों भावों के आश्रय से ध्रुवस्वभाव ज्ञात नहीं होता—भेद के लक्ष से अभेद को नहीं जाना जा सकता।

यद्यपि क्षायोपशमिक—क्षायिकरूप भाव निर्मल दशा है और उनके द्वारा आत्मा ज्ञात होता है; किंतु यहाँ भेद को गौण करके नित्य अभेदस्वरूप बतलाने के लिये ऐसा कहा है कि—उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता। पर्यायभेद का लक्ष छोड़कर भीतर शुद्धनय द्वारा अभेद ध्रुवस्वभाव का लक्ष करे तो सम्यग्दर्शन हो—ऐसा यहाँ कहने का तात्पर्य है।

साधक की नौका
सिद्धपुरी में पहुँच जाती है

ध्रुव चैतन्यस्वभाव को ध्येयरूप बनाकर उसकी साधना करते-करते भगवान महावीर आज सिद्धपुरी में पहुँचे। सिद्ध समान अपने आत्मा को पहिचानकर साधक की नौका मोक्षपुरी की ओर चली जाती है। जिसप्रकार समुद्र में ध्रुवतारे के लक्ष से नौकाएँ चली जाती हैं, उसीप्रकार संसार समुद्र में ध्रुव चैतन्य के विश्वासपूर्वक साधक की नौका तैरती जाती है; ध्रुव चैतन्यस्वभाव को ही दृष्टि का ध्येयरूप रखकर साधक आत्मा की नौका निःशंकरूप से सिद्धपुरी में पहुँच जाती है।

सांसारिक कार्यों को प्रथम और धर्म को अंतिम स्थान दे तो—

तेरा स्थान दुर्गति में ही है

['पद्मनंदि पंचविंशतिका' दान अधिकार पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(जामनगर, तारीख २२-१-६१)

आज श्री पार्श्वनाथ भगवान का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया गया। जो सम्पूर्ण वीतराग हो, वह सम्पूर्णरूप से एक समय में सर्व का ज्ञातादृष्टा सर्वज्ञ होता है। पार्श्वनाथ प्रभु ने प्रथम वीतरागी दृष्टि प्रगट की और फिर आत्मा में वीतरागी स्थिरतारूप चारित्रदशा प्रगट करके सर्वज्ञपद-केवलज्ञान प्रगट किया।

निश्चय सम्यग्दर्शनसहित मुनिपदपूर्वक अंतर में पूर्ण एकाग्रता (पूर्ण मोक्षमार्ग) होने पर पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ। उन्होंने जगत को क्या बोध दिया, वह कुंदकुंदादि आचार्य कह गये हैं। अठारह दोष रहित अरिहंत परमात्मा को सर्वज्ञ कहा जाता है। अरिहंत पद किसी राजा का नाम नहीं है, किंतु श्री अर्थात् अंतरंग में शुद्धता होने पर प्रगट होनेवाली केवलज्ञानरूपी आत्मलक्ष्मी को 'श्री' कहा जाता है और वह दशा जिन्होंने प्राप्त की है; उन्हें अर्हंत कहते हैं।

महान पदवी धारण करनेवाले को तो जगत पहिचानता है, किंतु अंतर में संयोग और विकार से निरपेक्ष पूर्ण शक्ति का विश्वास एवं पूर्ण स्थिरता-वीतरागता द्वारा पूर्ण सर्वज्ञदशा प्रगट होती है उसकी प्रतीति-पहिचान जगत को नहीं है।

आचार्य ने दृष्टांत दिया है कि—जिसप्रकार कोई जन्मांध पुरुष किसी सूझता (नेत्रवाले) पुरुष के साथ आकाश में उड़ते हुए बगलों को गिनने की होड़ बदता है। उसीप्रकार अज्ञानी-मोक्षमार्ग ऐसा होता है, सर्वज्ञ नहीं है—ऐसी व्यर्थ की होड़ लगाता है।

शास्त्रों का अर्थ अपनी अनुकूलतानुसार करे तो मूल वस्तु समझ में नहीं आ सकती। किसी ने एक जन्मांध पुरुष को भोजन कराया। भोजन करते हुए अंध पुरुष से उसने पूछा—आप दूध लेंगे? अंध बोला—दूध कैसा होता है? उत्तर मिला कि—सफेद। अंध बोला—सफेद कैसा? तो कहा—बगले के पंख जैसा। फिर पूछा—पंख कैसा होता है? तब हाथ से पंख के आकार की संज्ञा बतलाई। अंध बोला—अरे! यह वस्तु भात के साथ कैसे खाई जा सकती है? जिसप्रकार उसका

लक्ष रंग के बदले आकार पर चला गया, उसीप्रकार मूल वस्तु को न जाननेवाले अंध समान हैं।

यहाँ न्याय द्वारा निर्णय किया जा सकता है कि—किसी को अति अल्प ज्ञान एवं अत्यंत रागादि होते हैं तो किसी को विशेष ज्ञान एवं शांति होती है। अल्प पुरुषार्थ द्वारा अल्प रागादि दूर हो सकते हैं और ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है, तो उग्र तथा पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा सर्व रागादि दोषों की हानि एवं ज्ञानादि की—पूर्णदशा की प्राप्ति किसी को हो सकती है। दोष की अंशत: हानि के द्वारा उसकी सर्वांश में हानि होने पर पूर्ण सर्वज्ञता को धारण करनेवाला कोई आत्मा है—ऐसा सिद्ध होता है।

जो तीन काल-तीन लोकवर्ती सर्व पदार्थों को सर्व प्रकार से एक समय में जाने, वह सर्वज्ञ है। उन सर्वज्ञ द्वारा पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष और मोक्ष का उपाय, संसार (दु:ख) और संसार के कारणरूप पुण्य-पाप, आस्रव तथा बंधतत्त्व और निमित्तरूप अजीवतत्त्व आदि स्पष्टरूप से समझाया गया है।

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण स्व-पर को जानने का अनंत सामर्थ्य रखता है। जिसप्रकार कल की बात याद आती है, उसीप्रकार साठ-सत्तर वर्ष पुरानी बात का भी तुरंत स्मरण हो सकता है। युवावस्था में किये हुए तीव्र क्रोधादि का स्मरण करने से वे वर्तमान में नहीं हो आते, किंतु मात्र उनका ज्ञान ही होता है। उसीप्रकार—मैं संयोग और विकार रहित अनादि-अनंत पूर्ण ज्ञायकस्वभावी हूँ—ऐसा अनुभव करके सर्वज्ञता की प्रतीति कर सकता है और वही जीव उग्र भेदज्ञान द्वारा विकार को दूर करके, त्रैकालिक निर्विकार ध्रुवशक्ति में एकाग्र हो तो पूर्ण निर्मल दशा प्रगट कर सकता है।

ज्ञान में भार (वजन) नहीं है। सत्तर वर्ष में हजारों ग्रंथ पढ़े हों वह याद रहता है; लाखों वर्ष की आयुवाले को अनेक लाखों ग्रंथ धारणा में बने रहते हैं; तथापि उनका भार-वजन नहीं लगता; इस पर से आत्मा सदा अरूपी, (-स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित) रागादि दोष रहित तथा अखण्ड अक्रम ज्ञानवाला है।—ऐसा उसका स्वरूप ज्ञान में ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है।

जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्होंने कहा है कि—प्रत्येक आत्मा सत्चिदानंदमय पूर्ण सम्पदावान हैं, उसे कोई काल, क्षेत्र या जड़कर्म जड़ बना दे, ऐसा नहीं है। जितना सामर्थ्य सिद्ध परमात्मा में है, उतना ही तुझमें इस समय भी विद्यमान है; उसे स्वीकार कर, उसका आदर कर तो अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कर लेगा। भावी निर्वाण का पात्र बन! भगवान ने ऐसा अक्षयदान आत्मा में से निकालकर आत्मा को देना कहा है।

जब तीर्थंकर भगवान के पंचकल्याणक (गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण) होते

हैं, तब स्वर्ग में से देव और इन्द्र, लोक में आकर महा महोत्सव मनाते हैं; २४७८ वर्ष पहले देवों के समूह यहाँ आते थे।

सर्वज्ञ परमात्मा ने तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष देखा है; उनकी वाणी में संसार दुःख से मुक्त होकर पूर्णानंदरूप होने का आदेश है। कर्म, निमित्त, काल, क्षेत्र, रोगादि जीव को रोक रखते हैं, सत्य नहीं समझने देते-अंतर में स्थित नहीं होने देते—ऐसे माननेवाले तीर्थंकर की वाणी समझे ही नहीं हैं। वे दो द्रव्यों की एकताबुद्धि द्वारा स्वतंत्रता की दृष्टि का—मोक्ष के मुख्य साधन का नाश करनेवाले हैं। इस समय आत्महित का पुरुषार्थ नहीं हो सकता—ऐसा कहनेवाले की बात सुनने योग्य नहीं है।

सर्वज्ञ परमात्मा ने प्रथम प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानकर शुद्धात्मा में ही ढलने को कहा है।

तू त्रिकाल ज्ञान-आनन्दस्वभावी जीव है और जिनमें किंचित्-मात्र ज्ञान नहीं है, वे अजीव द्रव्य हैं। वे पाँच प्रकार के हैं, वे तुझसे भिन्न हैं; तुझे लाभ-हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं हैं। तू भी पर का कुछ नहीं कर सकता। तू अपनी विपरीतता से अपनी दशा में शुभ या अशुभ भाव करता है; वे दोनों विरुद्धभाव हैं-मैल हैं; उन्हें आस्रवतत्त्व कहा है; उनसे बंधन की होता है। जिस भाव से बंधन होता है, उस भाव से किसी को भी, किसी काल में किसी प्रकार धर्म या धर्म का साधन मोक्षमार्ग नहीं होता—ऐसी श्रद्धा प्रथम करना चाहिए। ऐसा जो नहीं मानता, उसने भगवान के कहे हुए आस्रवतत्त्व को नहीं माना है।

आत्मा में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता द्वारा मिथ्यात्व-रागादिरूप अशुद्धता का रुकना और अंशतः शुद्धता का होना, सो संवरतत्त्व है। वह आत्मा की अंशतः निर्मल दशा-साधक दशा है।

आत्मा में विशेष पुरुषार्थ द्वारा शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की हानि, सो निर्जरा तत्त्व है।

स्वभाव से च्युत होकर पुण्य-पाप में अटकना, सो मलिन भाव-बंधतत्त्व है।

पूर्ण निर्मलदशा, सो मोक्षतत्त्व है। जिसप्रकार बीज को जला देने के बाद वह फिर नहीं उगता; उसीप्रकार सर्वथा संसार के कारणरूप दोष का नाश करने के पश्चात् जिन्हें मोक्षदशा—सिद्धपरमात्मदशा प्रगट होती है, वे सिद्ध भगवान फिर कभी संसार में अवतार धारण नहीं करते।

''मोक्ष कह्यो निज शुद्धता ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेपमां सकल मार्ग निर्ग्रंथ॥''

सर्वज्ञ तो सम्पूर्ण वीतराग हैं। उनके सर्वांग से बिना इच्छा के एकाक्षरी ओंमकारमय ध्वनि खिरती है। ओष्ठ और मुख नहीं खुलते। उनकी वाणी में आया है कि—जीव के कार्य जीव से होते हैं, अजीव से नहीं होते; अजीव के कार्य अजीव से होते हैं, जीव उनमें कुछ नहीं कर सकता। जीव अपने अपराध से दुःखी है; पुण्य-पाप, राग-द्वेष-मोह आस्त्रव हैं, वे दुःखदाता हैं, बंध के कारण हैं। बंध के कारणों को आस्त्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मा के अशुद्धभाव—वे स्वभाव से विरुद्धभाव हैं, उन्हें आस्त्रव कहा है। निर्मल एकरूप सामान्य स्वभाव में एकाग्रता द्वारा शुद्धि होना, वह संवर है, उससे अशुद्धता रुकती है। बंध का अंशतः अभाव और अंशतः शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है; पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है।

प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनंत है, स्वतंत्र है; वह स्व से है और पर से नहीं है। सभी द्रव्य अपने-अपने भाव में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हैं; अपनी सत्ता को कभी नहीं छोड़ते; पररूप-पर के कार्यरूप कोई कभी नहीं होते; त्रिकाल स्थायी रहकर परिवर्तित होते हैं। उनमें जीवद्रव्य ज्ञाता है; वह अपने को भूलकर पर को अपना मानता है, पुण्य-पाप में रुचि करता है, इसलिये दुःखी होता है। उसके सुख-दुःख का कोई अन्य कर्ता-हर्ता नहीं है किंतु स्वयं ही प्रतिक्षण अपनी नवीन अवस्था को उत्पन्न करता है, पुरानी अवस्था को बदलता है और स्वयं अनंतगुणरूप से निजशक्ति को ज्यों की त्यों बनाये रखता है।

श्री समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि—हे भगवान! आपने प्रत्येक पदार्थ का एक समय में ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से सत्तावानपना लक्षण बतलाया, वही आपकी सर्वज्ञता का प्रमाण है।

प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, नित्य है, वह प्रतिसमय परिणमन करता है; उसे दूसरा कौन करेगा?

जिसप्रकार 'मिसरी' शब्द है, वह वाचक है और मिसरी पदार्थ, वह वाच्य है, तथा वैसा ज्ञान स्व-पर का ज्ञाता है।—इसप्रकार शब्द पदार्थ और ज्ञान का मेल है।

जिसप्रकार थैली में साढ़े सात सौ रुपये रखे हों और उनमें दो रुपये कम निकलें तो छानबीन करता है; उसीप्रकार चौदह राजूप्रमाण लोक में सर्वज्ञभगवान ने छह द्रव्य देखे हैं और उन छहों को त्रिकाल स्वतंत्र देखा है। वह किसप्रकार है, उसका सर्वज्ञ की वाणी से (शास्त्र से), ज्ञान से और पदार्थ की मर्यादा से जानकर यथार्थ निर्णय करना चाहिये। प्रथम तो नवतत्त्व, देव-गुरु-शास्त्र और धर्म का स्वरूप यथार्थरूप से जानना चाहिये; कोई उससे विरुद्ध कहे तो उसे विरुद्ध मानना चाहिये।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन नवतत्त्वों को उनके स्वरूप सहित अंतर्दृष्टि से ज्यों का त्यों माने, तभी आत्मोन्मुख हो सकता है और तभी सम्यग्दर्शन होता है।

श्रीमद् राजचंद्रजी कह गये हैं कि—आजकल जैन कहे जानेवालों में नवतत्त्वों के नाम किन्हीं-किन्हीं को ही बराबर आते होंगे और उनमें भी नवतत्त्वों का अर्थ समझनेवाले तो ऊंगली के पोरों पर गिने जा सकें, इतने होंगे। आजकल भेदविज्ञान सहित नवतत्त्वों का भावभासन विरल हो गया है; तथापि जो समझना चाहे, उसके लिये कठिन नहीं है।

जो नवतत्त्वों को शुद्धदृष्टि से जानता है, उसे शुद्धनय के विषय का ज्ञान होता है और भूमिकानुसार पुरुषार्थ द्वारा राग का अभाव तथा राग की मंदतारूप शुभभाव भी होता है; उस शुभ को व्यवहार धर्म कहते हैं, किंतु निश्चय धर्म—वीतरागी दृष्टि हो, तभी उसके शुभभाव को आरोप से व्यवहार धर्म का नाम दिया जाता है। विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वदृष्टिरूप साधन द्वारा अंतरोन्मुख होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, वह निश्चय धर्म है। गृहस्थदशा में चौथे गुणस्थान से उसका प्रारम्भ होता है।

खीर आदि मिष्टान्न का स्वाद किसी भी जीव को नहीं आता, क्योंकि वह मिष्टान्न नहीं खा सकता किंतु राग को खाता है—राग का अनुभव करता है। आत्मा में रागरहित निराकुल आनन्द का स्वाद आता है, वह आत्मा का स्वाद है।

परमाणु मात्र मेरा नहीं है—ऐसी निर्मोही दृष्टि धर्मी जीव को होने के कारण उसे दान का विवेक होता है। किंतु जो अपनी बही में धर्मादा खाता रखते हैं, शुभ खाते में दान की रकम निकालकर उसमें गड़बड़ करते हैं; दान देते समय सोच-विचार करते हैं, उन्हें विवेक नहीं है और तृष्णा बढ़ाना है।

श्री कार्तिकेय स्वामी 'अनुप्रेक्षा' में लिखते हैं कि—गृहस्थों को अपनी आमदनी के अनुसार कम से कम दसवाँ भाग दान में खर्च करना चाहिये।

लड़कों के विवाह में खर्च करते समय जो लोभ नहीं करता और धर्म कार्यों में लोभ करता है, उसे पुण्यरूपी व्यवहार धर्म भी प्रगट नहीं होता। विवेकवान धर्मी जीव को किसी प्रकार राग-द्वेष-तृष्णा टालने की श्रद्धा होने से उसके अनिच्छक भाव से बँधे हुए पुण्य के फल में तीन लोक में श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति होती है। उसे व्यवहार से कलेवा कहा जाता है। कहीं बाहर-गाँव जाना हो तो

साथ में कलेवा ले जाता है; उसीप्रकार मरने पर कहीं परलोक में जाना ही है, उसके लिये श्रद्धा-ज्ञान सहित पुण्य का कलेवा है या नहीं ?

जिसकी दृष्टि वर्तमान पर ही है, जिसे अनुकूलता से प्रेम है, उसे उसी समय प्रतिकूलता के प्रति तीव्र द्वेष विद्यमान ही है। उसे क्षणमात्र भी कुछ असुविधा जैसे दिखाई दे तो उसे सहन नहीं करता; उस तीव्र ममता का फल नरक-निगोद है। जिसप्रकार कोई सत्ता प्रिय उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति तम्बू की रस्सी ढीली देखकर क्रोध से चिल्ला उठता है; उसीप्रकार जो शरीर में किंचित् प्रतिकूलता देखकर चिल्ल-पों मचाता है, उसे त्रिकाल निर्विकार आनन्दमय आत्मा कैसे रुचेगा ?—नहीं रुच सकता।

आचार्य कहते हैं कि—हित के लिये दान का उपदेश है; जिन्हें वह नहीं रुचता वे उलूक की तरह है—जिसे सूर्य अच्छा नहीं लगता। लोभी को दान का उपदेश अच्छा नहीं लगता। स्वतंत्रता की श्रद्धा अर्थात् मुक्ति की श्रद्धा—सत्य का आदर; धर्म की जिज्ञासापूर्वक करुणा; कोमलता और धर्मात्मा तथा धर्मस्थलों के प्रति आदर लाकर राग को मंद करे, दानादि के शुभभाव करे, उसे पुण्य कहा जाता है।

प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता को सुनकर जहाँ एक समय में नवीन अवस्था का होना; पुरानी अवस्था का मिटना और वस्तु-द्रव्य का नित्यस्थायी-ध्रुवरूप से बना रहना;—इसप्रकार स्व-पर की स्वतंत्रता को जाने, वह जीव राग कम किये बिना नहीं रहता।

जो पुरुष दान नहीं देता, संग्रह करने में मानता है, वह अकेला खानेवाला है; उसका खाना रंक समान दीनता से खाना है; क्योंकि भविष्य में वह रंग होगा। और जो पुरुष अपनी शक्ति को छिपाये बिना जिनमंदिर आदि योग्य स्थानों में समय-समय पर दान देता है, भक्ति-प्रभावना के लिये तथा धर्म की अनुमोदना के लिये दान में खर्च करता है, वह प्राप्त हुई सम्पत्ति का सदुपयोग करता है। जो भोगों के लिये लक्ष्मी का व्यय करते हैं, वे भविष्य के भिखारी हैं।

संवत १९९६ में गिरनारजी की यात्रा को गये थे; तब सुनाया कि वहाँ के जैनमन्दिरों में जो नक्काशी का काम है, उसके बदले में कारीगरों को अच्छी मजदूरी दी जाती थी। यह सुनकर कहा था कि—धन खर्च करने से कम नहीं होता, किंतु पुण्य कम होने पर धन कम होता है। बिलकुल खर्च न करे, तब भी पुण्य कम होने पर लक्ष्मी चली जाती है। जिसप्रकार कुएँ में पानी प्रवाह चलता ही रहता है; उसमें चाहे जितना पानी निकाल लेने पर भी पानी कम नहीं पड़ता; **उसीप्रकार भगवान**

आत्मा में अपार ज्ञान-आनन्द का अक्षय भंडार भरा है; उसमें एकाग्रता करने पर ज्ञान-आनन्द प्रगट होता है; परंतु उसे भूल जाये तो राग-इच्छा का प्रयत्न करता रहेगा। मंद कषाय करे, तथापि सच्चा आनन्द हाथ नहीं आता; सर्वप्रकार के राग से पार अक्षय चिदानंद ध्रुवस्वभाव है, उसमें अंतर्दृश्टि करके एकाग्रता करे तो चैतन्यसागर उमड़ता है। एकबार अन्दर छलांग मार, चैतन्य प्रभु को दृष्टि में लेकर, पुण्यादि विकार की रुचि छोड़कर अंतर में देख तो सदैव परमानंद शान्ति का सागर स्वयं ही है।

वचनामृत वीतरागनां, परम शांतरस मूल
औषध जे भवरोगना, कायरने प्रतिकूल।

—जो कायर हुआ, उसमें फिर शूरवीतरा नहीं आती। ऐसा एक हिजड़ों का दृष्टांत है:—जामनगर राज्य में एक विभाजी नाम के राजा थे; उनके पास हिजड़ों की एक टोली आई और कहने लगी कि—महाराज, हमें सेना में भर्ती कर लीजिये; वेतन में खीचड़ा—भोजन-पानी देना। राजा ने उन्हें सेना में भर्ती कर लिया। एकबार विपरीक्ष राज्य के सिपाही गायों का एक झुंड घेरकर ले जा रहे थे; उन गायों को छुड़ा लाने के लिये हिजड़ों की सेना को भेजा। हिजड़ों का शरीर पंजाबी (डीलडौल) देखकर विपक्षी सिपाही भागने की तैयारी कर रहे थे; इतने में नदी के उतार के पास नपुंसक घुड़सवारों के मुँह से कुछ ऐसे शब्द निकले; जिन्हें सुनकर विपक्षी सिपाहियों ने समझ लिया कि यह तो हिजड़े हैं! फिर क्या था... उन्होंने पलटकर हिजड़ों को ललकारा तो वे भाग खड़े हुए, अम्बाजी माता को पुकारते हुए जाम साहब के पास जाकर कहने लगे—"महाराज, लश्कर में हमारा काम नहीं... हम तो आपका (खीचड़ा) खायेंगे और गीतड़ा गायेंगे।" उसीप्रकार जिन्हें त्रैकालिक चैतन्य सत्ता का माहात्म्य नहीं है, वे अंतर्दृष्टि रहित पुरुषार्थ हीन हैं, उन्हें राग की तथा पुण्य की बात में आनन्द आता है, उसमें उत्साह बतलाते हैं, किंतु उसमें किंचित् धर्म नहीं है। अकेले आत्मभाव में निरपेक्षदृष्टि और वीतरागी चारित्र, वह धर्म है;—ऐसी बात में उत्साह नहीं आता और विपरीतरूप प्रवर्तन करते हैं, ऐसे पुण्य-पाप की रुचिवान् अंतर्स्वभाव में जाने के लिये नपुंसक हैं।

पुण्य-पाप की रुचि की ओट में अंतरंग निधान दृष्टिगोचर नहीं होता। महाव्रतों का पालन करे किंतु आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान नहीं है, उन्हें आत्मकार्यरूप पुरुषार्थ के लिये नपुंसक कहा है। जिसप्रकार नपुंसक का वीर्य जागृत नहीं होता, संतानोत्पत्ति नहीं होती; उसीप्रकार व्यवहार की-पुण्य की रुचिवाले जीव को विकार की रुचि है, इसलिये वह अंतरंग अकषाय

ज्ञाता स्वभाव में ढ़लने के लिये असमर्थ है-नपुंसक है। वह कायरता की दृष्टि छोड़कर अपार स्वभाव का सामर्थ्य स्वीकार करके अंतरोन्मुख हो तो धर्म हो। उसका आनन्द किसी भी संयोग में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में उससे दूर नहीं है।

एक काव्य 'सम्राट सिकंदर' का है; जिसमें कहा है कि—अरबों की संपत्ति खर्च करने पर भी वह मृत्यु के मुँह से न निकल सका। 'मेरा जनाजा उन हकीमों से उठवाया जाये' इतना कहकर वह मर गया। ऐसे तो अनंत जीव मनुष्यत्व खोकर चले गये; एक कौड़ी भी उनके साथ नहीं गई। जिस मनुष्य के पास लक्ष्मी है, तथापि दान में नहीं लगाता, मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी इन्द्रियों को वश करके ब्रह्मचर्य आदि संयम का पालन नहीं करता। पढ़ा-लिखा होने पर भी कषायाग्नि को मंद न करे, त्यागी-व्रती होकर भी क्लेश न छोड़े तो उसका सब व्यर्थ है। अनेक शास्त्र पढ़ा हो, किंतु आत्मा की ओर दृष्टि न रखे, ज्ञातापना का धैर्य-शांति प्रगट न करे तो उसका सब पढ़ा-लिखा व्यर्थ है।

आजकल तो नास्तिकता का प्रचार बढ़ रहा है; वहाँ मंदिर, भगवान, वीतराग देव की मूर्ति और उनके दर्शन की भावना कौन करे? सहज ही बिना कष्ट के धर्म श्रवण का योग प्राप्त होता हो तो घर में और दुकान पर पूछता है कि 'अब मेरे लिये कोई काम बाकी न हो तो जरा मंदिर में जाकर शास्त्र सुन आऊँ।'—इसप्रकार धर्म का नंबर आखिरी रखना चाहता है। संसार में भटकने की रुचि को प्रथम और धर्म को अंतिम स्थान दे तो तेरा नंबर दुर्गति में ही है। इसलिये आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि—गृहस्थदशा में पाप से बचने के लिये दिन-प्रतिदिन दान देना चाहिये। विशेष पुरुषार्थ लाकर धर्म में लगना चाहिये। स्थिर न रह सके, तब तक देव-पूजा, गुरुजनों की सेवा, विनय, स्वाध्याय, संयम और इच्छानिरोधरूप तप तथा दान की प्रवृत्ति गृहस्थ धर्म में मुख्यतः होती ही है। यदि वह न हो तो उसका गृहस्थ जीवन व्यर्थ है।

★

सूचना

जो 'सत्साहित्य-योजना' बिना मूल्य व अर्द्ध मूल्य पर भेजने के लिये शुरु की गई थी, वह अब बन्द कर दी गई है, जिन संस्थाओं को साहित्य न मिला, वे क्रम में नहीं आ सकी हैं। अतः इस बारे में अब पत्र व्यवहार न करें। —प्रकाशक

परवस्तु सुख-दुःखदाता नहीं है किंतु

जीव अपने मिथ्या अभिप्राय के कारण उसमें सुख-दुःख मानता है।

[जामनगर में श्री समयसार कर्ता-कर्म अधिकार गाथा ७१ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(माघ शुक्ला ५, संवत् २०१७ तारीख २१-१-६१)

शिष्य ने पूछा कि—जीव दुःख में सदा भयभीत रहता है, वह दुःख को किंचित् नहीं चाहता, तथापि उसके दुःखों का अंत क्यों दिखाई नहीं देता? आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—भाई! तू शरीर से भिन्न आत्मा है, तेरी वस्तु सत्चिदानन्दस्वरूप है, तू उससे पृथक् नहीं है-एकमेक है; किंतु ऐसा नहीं मानता, इसलिये अपने क्षेत्र में अन्य वस्तुओं—शरीर, शरीर की क्रिया तथा पुण्य-पाप की वृत्ति—को देखकर उनके साथ एकताबुद्धि कर रहा है, वह भ्रम है। पुनश्च, मेरे कारण पर के कार्य होते हैं और पर के कारण मुझमें परिवर्तन होता है—ऐसी दो द्रव्यों में एकता की दृष्टि रखकर पर में तथा विकार में कर्तृत्व मानकर दुःखी हो रहा है।

शरीर में विद्यमान आत्मतत्त्व शरीर से बिलकुल भिन्न एवं अनादिकालीन हैं। जो वर्तमान में है, वह भूतकाल में न हो, ऐसा नहीं हो सकता और भविष्यकाल में भी उसका विनाश नहीं होता। अनंतबार अनंत शरीरों के संयोग में आने पर भी आत्मा कभी शरीररूप नहीं हुआ।

यह जो जड़ शरीर दिखाई देता है, यह रूपी है, इसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और अस्तित्वादि गुण हैं किंतु ज्ञान इसमें किंचित्मात्र नहीं है; इसलिये कोई भी जीव अपनी चैतन्य जाति को छोड़कर दूसरे में एकमेक हो जाये, ऐसा नहीं होता।

शरीर जड़रूप रहकर अपनी पर्यायें धारण करता है। वस्तु सदा एकरूप स्थिर रहकर उसी में उसकी अवस्थाएँ जलतरंगवत् एक पश्चात् एक होती रहती हैं; उसीप्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुख आदि शक्तियों से भरपूर है; वह अनादिकाल से अपने को भूलकर पर को अपना मानता है और इसलिये पुण्य-पाप विकार भाव से भ्रमण कर रहा है। अंतर में स्वयं शाश्वत् ज्ञाता-दृष्टा साक्षीरूप है, ज्ञानानंदमय अपना स्वरूप है, किंतु उसका कभी अंतर्दृष्टि से ज्ञान नहीं किया; इसलिये अज्ञानभाव से विकार का कर्ता-भोक्ता-स्वामी हो रहा है।

व्यवहार से भी कोई पर का कर्ता-भोक्ता या स्वामी नहीं हो सकता, तथापि मान रहा है। जब तक उस झूठी मान्यता को नहीं छोड़ेगा, तब तक यह नहीं जान सकता कि मैं चैतन्य चमत्कार अतीन्द्रिय ज्ञान हूँ, अर्थात् स्वानुभव का कर्ता नहीं हो सकता।

शरीर से सुख-दु:ख नहीं है, वह तो जड़-मिट्टी है। यह आत्मा हर समय भूलता है और उसके फलस्वरूप हर समय अकेला दु:खी होता है। अंतर में भरे हुए अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा करे, तभी अंशत: सुख का अनुभव कर सकता है।

लोग बाह्य में भला-बुरा होना मानते हैं किंतु वह बहिरात्मा-दृष्टि है। आचार्यदेव तो मूल वस्तुस्वरूप का कथन करते हैं; जगत को संतुष्ट करने और जगत से संतुष्ट होने की यह बात नहीं है।

जो आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं, उनमें शक्तिरूप से सर्वज्ञता थी, वह प्रगट हुई और तीन काल तीन लोक का सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में जाना। जो कुछ जाना, वही वाणी में कहा। इसप्रकार अनंत सर्वज्ञ परमात्मा हो गये हैं और उन्होंने कहा है कि संसारी जीव अनादिकाल से क्यों दु:खी हो रहा है और उस दु:ख से छूटने का उपाय क्या है।

शिष्य ने पूछा कि—जीव दु:खों से सदा भयभीत रहता है, वह दु:ख को किंचित् नहीं चाहता, तथापि उसके दु:खों का अंत क्यों दिखाई नहीं देता? आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि—भाई! तू शरीर से भिन्न आत्मा है, तेरी वस्तु सत्चिदानन्द है, तू उससे पृथक् नहीं है-एकमेक है, किंतु ऐसा न मानकर, अपने क्षेत्र में अन्य वस्तुओं—शरीर, शरीर की क्रिया तथा पुण्य-पाप की वृत्ति—को देखकर उनके साथ एकताबुद्धि कर रहा है, वह भ्रम है। पुनश्च, मेरे कारण पर के कार्य होते हैं और पर के कारण मुझमें परिवर्तन हो सकता है—ऐसी दो द्रव्यों में एकता की दृष्टि रखकर पर में तथा विकार में कर्तृत्व मानकर दु:खी हो रहा है। कोई ईश्वर, कर्म, काल, क्षेत्र, संयोग तुझे भूल कराये या तुझे दु:ख दे तो ऐसा त्रिकाल में नहीं है।

आत्माज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानात् अन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

(श्री समयसार कलश)

आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, उसमें भेद आया। 'स्वयंज्ञान' है, उसमें अभेदता आई। अरे आत्मा!

तू सदैव ज्ञाता-दृष्टारूप ही है, तुझमें ही जानने-देखने का परिणमन होता है; वह तेरा कार्य (कर्म) है, और तू उसका कर्ता है। उसे भूलकर में पर का कर्ता हूँ—ऐसा मानना, वह सर्व दुःखों के मूलरूप भ्रम (मोह) है।

जितने संकल्प-विकल्प उठें—पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, काम-क्रोध, मानादि, या दया-दान-व्रत-पूजा-भक्ति के भाव हों, वह सब राग-द्वेषरूप विकार है, उसका मैं कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है—ऐसी अज्ञानी की अनादिकालीन कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है।

भगवान आत्मा सदा अपने ज्ञान-आनन्दस्वभाव को धारण करता है, उसकी सर्व शक्तियाँ उसी में एकाकार हैं। जिसप्रकार कच्चे चने के अन्दर में मिठास की शक्ति भरी है, वही सेंकने से प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा में पूर्ण निर्मल ज्ञानानन्दस्वभाव सदा भरा है; किंतु वर्तमान भूल के कारण पुण्य-पापरूप विकृतदशा है, वह कचास है; उसे अपना स्वरूप मानने से (उसका कर्ताकर्म संबंध मानने से) ज्ञानानन्द से विपरीत ऐसी दुःख दशा का—आकुलता का स्वाद ले रहा है और उस दुःख को अज्ञानी सुख मान रहा है।

परवस्तु में आत्मा का स्वाद नहीं है। मेसुर-या गुलाबजामुन या लड्डू आदि मुँह में डाले, वहाँ कल्पना कर रखता है कि—आहा! बहुत अच्छा है! किंतु उसे गले के नीचे उतारने से पूर्व मुँह के सामने दर्पण रखकर उस चबाये हुये ग्रास को देखे तो वह कुत्ते के वमन जैसा दिखाई देगा! किंतु स्वाद की लोलुपता की ओट द्वारा आकुलता में दुःख नहीं मानता। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसमें जड़ वस्तु का स्वाद कभी नहीं आता।

जिसप्रकार कच्चा चना बोने से उगता है और खाने से मीठा स्वाद नहीं आता; किंतु उसे सेक डालने पर फिर वह बोने से उगता नहीं है, और उसका मीठा स्वाद—जो शक्तिरूप से विद्यमान है—प्रगट होता है; उसीप्रकार अनादिकाल से आत्मा में शक्तिरूप से सर्वज्ञ परमात्मपद विद्यमान है; आत्मा स्वयं ही पूर्ण ज्ञान-आननद से भरपूर है; उसे भूलकर अज्ञानी अपने को वर्तमान शरीर-इन्द्रियाँ तथा अपूर्ण खंड-खंड ज्ञान और विकार जितना मानकर अपने में भेद करके पर के साथ अभेदता करता है। ज्ञानी पर से भेद करके अपने स्वरूप में अभेदता करता है। वह मानता है कि—शरीर, इन्द्रियाँ, आयु, श्वास, भाषा, मन आदि जड़ पदार्थ हैं, उन जैसा मैं नहीं

हूँ; मैं जड़ इन्द्रियों का रसास्वादन नहीं करता, जड़ के कार्य मेरे नहीं हैं। पूर्व काल में स्व-पर की एकताबुद्धि द्वारा पर में कर्ता-कर्मपना मानकर दु:खी हुआ था और अब स्वलक्ष से भेदज्ञान करके सुखी हुआ है।

अज्ञानता के कारण दु:खी होकर अनंत काल गंवाया एक क्षण भी सत् धर्म का श्रवण नहीं किया, माना भी नहीं। धर्म-अधर्म का फल तो जिस समय करता है, उसी समय होता है। क्रोध करे तो उसी समय क्लेश प्राप्त करता है और क्षमा करे तो उसी समय समता का अनुभव करता है। धर्म यहाँ करेऔर उसका फल परभव में प्राप्त हो-ऐसा नहीं है।

जिसप्रकार अग्नि और उष्णता एक हैं—भिन्न नहीं हैं; उसीप्रकार स्वयं ज्ञाता अंतर में ज्ञायकस्वरूप ही है; भिन्न नहीं है। निज में ही अतीन्द्रिय आनन्द भरा है; उस पर दृष्टि करे तो आनन्द का अनुभव करता है। जिसप्रकार जल और मैल का भेद न माननेवाला मैला जल पीता है; उसीप्रकार वर्तमान दशा में परलक्ष से पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती हैं, उन्हीं पर जिसकी दृष्टि है और उन्हीं में कर्ता-कर्मपना मानता है, वह ज्ञातास्वभाव का विरोध करनेवाला होने से दु:ख का ही अनुभव करता है।

चौरासी के अवतार में अनंत बार करोड़पति सेठ हुआ, राजा हुआ, रंक हुआ, शास्त्रों का ज्ञाता-पण्डित हुआ, और त्यागी हुआ; किंतु अपने स्वरूप को भूलकर विकार को अपना कार्य मानकर त्रैकालिक चिदानंद की दृष्टि का अनादर कर रहा है।

अरे आत्मा! यह शरीर तो जड़ परमाणु मिट्टी है; क्षणिक संयोग से आया है; इसकी अवधि पूरी होने पर छूट जायेगा। पूर्व भव में से कर्म के रजकण लेकर माता के गर्भ में आया; जन्म धारण करने के पश्चात् दूध, दाल-भात आदि खाकर बड़ा शरीर हुआ; किंतु वही कहीं शाश्वत (नित्य स्थायी) नहीं है; रोटी आदि रूप जो परमाणु थे, वे इस शरीररूप हो गये हैं। रोटी को बिच्छू काट ले तो दु:ख मानता, किंतु यहाँ इस शरीर को काट ले तो हायतोबा मचाता है; क्योंकि मैं आत्मा ज्ञातास्वरूप हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ—ऐसी दृष्टि नहीं की।

यह शरीर, वाणी आदि पर हैं; उनके कार्य स्वतंत्र उनसे ही होते हैं—ऐसा जिसे भासित नहीं कर सकता कि—यह शुभाशुभ भाव मैं नहीं हूँ और वह मेरा कार्य नहीं है।

शिष्य ने अपने हित के लिये जिज्ञासापूर्वक पूछा है कि—अनादि काल से अज्ञानमय कर्ता कर्म की प्रवृत्ति धारावाही चली आ रही है, वह कैसे दूर होगी? आचार्यदेव उससे कहते हैं कि—प्रभु— वस्तु का स्वभाव सवयं अपने में होता है, पर में नहीं होता; तेरा सामर्थ्य ज्ञाता-दृष्टारूप से तुझमें ही है, किंतु उसकी प्रतीति तूने नहीं की; इसलिये यह दुःखरूप दशा है। त्रैकालिक निर्विकार स्वभाव से विपरीत वस्तु पुण्य-पापरूप शुभाशुभवृत्ति है; उसे दुःखरूप से (दोषरूप से) जान ले तो त्रैकालिक स्वभाव के लक्ष से मलिनता का कर्ताकर्मपना छूट जाये।

जिसप्रकार पीपर के दाने-दाने में अन्दर परिपूर्ण चरपराहट और हरापन भरा हुआ है; किंतु बाहर से देखें तो उसके सच्चे रूप का निर्णय नहीं हो सकता; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा में इस समय भी पूर्णज्ञान-आनन्दशक्ति विद्यमान है, किंतु बाहर से देखने पर उसका सच्चा स्वरूप ज्ञात नहीं होता। यदि ज्ञानी का यथार्थ उपदेश सुनकर उसका स्वरूप समझे और उसमें श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप उपाय करे तो वह प्रगट होता है।

निमित्त (-संयोग) की ओर से देखनेवाला अपनी अज्ञानदृष्टि से देखना चाहता है, किंतु उसके द्वारा अंतरंग की पूर्ण शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। पीपर के टुकड़े करने से उसकी परपराहट दिखाई नहीं देती; किंतु वह उसमें पूर्ण शक्तिरूप से विद्यमान है—ऐसा प्रथम विश्वास करके फिर उसे भलीभाँति घिसे तो चरपराहट दिखाई देती है। वह पूर्ण चरपराहटरूप धर्म कहाँ से आया?—पूर्वकालीन पर्याय में से नहीं आया, पत्थर में से नहीं आया, किंतु भीतर जो शक्ति थी, वही प्रगट हुई है। यही सिद्धांत आत्मा में समझ लेना चाहिये।

यह तो न्याय से कहा जा रहा है; बिना समझे मान लेने की बात नहीं है। 'न्याय' शब्द में 'नी' धातु है। 'नी' अर्थात् ले जाना;—जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा यथार्थ स्वरूप में ज्ञान को ले जाना, सो न्याय है।

ज्ञान की स्वतंत्र शक्ति है—ऐसा भासित हुए बिना जड़ की स्वतंत्रता और शक्ति-ताकत का स्वीकार नहीं होता। कोई कहे कि—पीपर के एक दाने में पूर्ण चरपराहट की शक्ति नहीं है, किंतु बहुत से दाने एकत्र हों तो चरपराहट होती है—ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक दाने में चरपराहट स्वतंत्र एवं परिपूर्ण है। उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा, शरीर से भिन्न और अपने स्वरूप में परिपूर्ण है। वर्तमान दशा में संसारीपने का भेद गौण करके देखने पर प्रत्येक आत्मा परमात्मा समान शुद्ध है।

मोर का अंडा देखने में छोटा होने पर भी उसमें जो सत्व है, उसमें पूर्ण कलामय मोर है... उसका 'एन्लार्ज' पूर्ण कलामय मोर है। कोई अंडे को हाथ में लेकर उलट-पलट कर देखे या हिलाये-डुलाये तो मोर दृष्टिगोचर नहीं होगा; इन्द्रियों द्वारा वह न दिखे तो क्या उसमें मोर नहीं है ? वर्तमान में ही उसमें पूर्ण शक्ति, वह बढ़कर ही मोर होता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा शरीर, वाणी, मन और जड़कर्म से पृथक् हैं; पुण्य-पाप विकार है, वह आत्महित के लिये बेकार (व्यर्थ) है। वस्तुस्वभाव को समझे बिना अज्ञानी के माने हुए व्रत-सामायिक आदि सब शून्य है।

इस जीव ने अनेक शास्त्र पढ़े हैं; यह जीव दीर्घ काल से व्रत-तप-त्याग कर रहा है, इसलिये धर्मात्मा है—ऐसा कोई कहे तो ठीक नहीं है। लोग पैसेवालों को सुखी मानते हैं; यदि वास्तव में ऐसा हो तो पाँच हजारवाला कम और पचास हजारवाला अधिक सुखी होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं है; घर में लाखों-करोड़ों रुपये हों किंतु शरीर में रोग आये या स्त्री-पुत्रादि आज्ञा न मानें तो दुःखी होता है। उस समय रुपये पैसे-क्यों सुख नहीं देते ? बाह्य-दृष्टि से देखनेवाले को कहीं सुख नहीं है। कोई परवस्तु सुख-दुःखदाता नहीं है, किंतु अज्ञानी का मिथ्या अभिप्राय ही दुःखदाता है। ऐसा जाने तो सुख का सच्चा उपाय करे।

घाटे (हानि) वाले दो प्रकार के होते हैं:—

(१) ऊपर से जिनकी लखपति जैसी प्रतिष्ठा हो, किंतु भीतर से वास्तव में कर्जदार हों।

(२) पाँच लाखवाला पच्चीस लाखवाले को देखकर अपने को घाटे में मानता है।

अज्ञानी पुण्यबंधन तथा संयोग से सुख की इच्छा करता है, किंतु भगवान आत्मा पुण्य-पाप-विकार से और संयोग से पार है। जो अपने को अंतरंग आनन्द सम्पदा से सुखी नहीं मानता, किंतु पुण्य के संयोग की इच्छा रखता है—उसे लाभदायी मानता है, वह पूरी तरह घाटे में है।

भगवान आत्मा अंतर में अपनी अनंत ज्ञानानंद आदि शक्तियों की प्रभुता से पूर्ण है; उस पर दृष्टि करे (उसी का आदर-आश्रय करे और पुण्य-पाप का आदर-आश्रय न करे) तो विकार मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता—ऐसी अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि छूट जाती है, वह जीव स्वतंत्रता की श्रद्धा और आत्मशांति की सुगंध में आता है, उसके अपूर्व धर्म का प्रारम्भ हुआ—ऐसा कहा जाता है।

किसी ने प्रश्न किया था कि—यह शरीर मिला, उससे पहले मैं पूर्व भव में था या नहीं, वह याद नहीं आता तो फिर आत्मा त्रैकालिक है, ऐसा कैसे माना जाये?—उसका उत्तर यह है कि—छह महीने की उम्र में क्या-क्या देखा था, वह इस समय याद नहीं आता, तो क्या उस समय यह जीव नहीं था?—अवश्य था। और जब माता के गर्भ में कहीं से आया, उससे पूर्व भी था—ऐसा पूर्वभव का (जातिस्मरण) ज्ञान कर सकता है;—ऐसी शक्ति जीव में है और उससे भी अनंतगुनी शक्ति ताकत जीव में हरेक समय है; किंतु कभी उसकी महिमा लाकर विचार नहीं करता और बाह्य में अंधी दौड़ लगाकर देखना चाहता है, तो वह शक्ति कैसे दृष्टिगोचर होगी?—नहीं हो सकती।

आचार्य भगवान ने तो अत्यन्त स्पष्टरूप से सत्य प्रगट किया है कि—तेरा सुख तुझमें ही है; वह स्वाधीन ही है। अंतर में शक्तिरूप से पूर्ण आनन्द भरा पड़ा है; उसकी अभेद श्रद्धा, ज्ञान और उसमें एकाग्रता का बल देते रहने से उस शक्ति का एन्लार्ज होने पर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। वर्तमान विभाव एवं अल्पज्ञता की दृष्टि छोड़कर, त्रिकाली निर्मल पूर्णस्वभाव पर दृष्टि लगाये तो सर्व विभाव का नाशक स्वभाव प्रगट अनुभव में आ सकता है।

प्रशंसनीय कौन?

इस जगत में जो आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह कदाचित् पूर्व पापकर्मों के उदय से निर्धन भी हो, अकेला भी हो, तथापि वह सचमुच प्रशंसनीय है; और उससे विपरीत जो जीव अनंत आनन्ददायक ऐसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से बाहर तथा मिथ्यामार्ग पर आरूढ़ है, वह भले ही वर्तमान शुभकर्म के उदय से धनवान हो तथा उसके अनेक साथी हों, तथापि वह प्रशंसनीय नहीं है। इसलिये भव्य जीवों को निरंतर सम्यग्दर्शन धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। *[—पद्मनन्दि-देशव्रतोद्योतन अधिकार-२]*

जगत उधारण अनुभव

स्वसंवेदन स्थिरता से उत्पन्न रसास्वाद-स्वानुभव अनंत सुख का मूल है। यह अनुभव धाराप्रवाहरूप से जागृत होने पर दु:खदावानल रंचमात्र नहीं रहता। भववासरूपी घटा को विच्छिन्न करने के लिये स्वानुभव परम प्रचण्ड वायु समान है—ऐसा मुनिजन कहते हैं। अनुभवसुधा का पान करके अनेक भव्य अमर हुए; अनुभव ही परमपूज्य पद (प्रगट) करता है; इसके बिना सर्व वेद-पुराण निरर्थक हैं; स्मृति विस्मृति है; शास्त्रार्थ व्यर्थ है (तथा) पूजा मोह-भजन है। अनुभव के बिना निर्विघ्न कार्य विघ्न है; परमेश्वर की कथा भी असत्य है, तप भी असत्य है तथा तीर्थसेवन भी असत्य है; तर्क, पुराण, व्याकरण खेद है; अनुभव के बिना ग्राम में गाय-श्वान और वन में हिरणादि की भाँति अज्ञानी तपस्वी है; अनुभव प्रसाद से मनुष्य चाहे जहाँ रहे सदा पूज्य है। अनुभव आनन्द, अनुभव धर्म, अनुभव परमपद, अनुभव अनंत गुणरससागर, अनुभव से सिद्ध होता है। अनूपज्योति, अमित तेज, अखण्ड, अचल, अमल, अतुल-अबाधित, अरूप, अजर, अमर, अविनाशी, अलख, अछेद, अभेद, अक्रिय, अमूर्तिक, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, अविगत, आनन्दमय और चिदानंद इत्यादि अनंत परमेश्वर के सर्व विशेषण अनुभव सिद्धि से करता है, इसलिये अनुभव सार है। मोक्ष का निदान, सर्व विधान का शिरोमणि, सुख का निधान, अम्लान अनुभव है। अनुभवी जीव-मुनिजनों के चरणारविंद की सेवा इन्द्रादिक करते हैं, इसलिये प्रत्येक सद्ग्रंथ में अनुभव से अनुभव की प्रशंसा कही है। अनुभव के बिना कोई साध्यसिद्धि नहीं है। अनंत चेतना चिह्नरूप, अनंतगुणमण्डित, अनंत शक्ति धारक, आत्मपद के रसास्वाद को अनुभव कहते हैं।

बारम्बार सर्व ग्रंथों का सार अविकार अनुभव है; अनुभव शाश्वत् चिंतामणि है; अनुभव अविनाशी रसकूप है, मोक्षरूप अनुभव है; तत्त्वार्थसार अनुभव है और जगत उधारण अनुभव है; अनुभव के समान अन्य कोई उच्चपद नहीं है; इसलिये सदैव स्वरूप का अनुभव करो। अनुभव की महिमा अनंत है, वह कहाँ तक बतलायें ? *('अनुभवप्रकाश', दीपचन्दजी साधर्मी कृत)*

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव

जासके मुखारविंद तें प्रकाश भास वृंद,
स्याद्वाद जैनबैन इन्दु कुंदकुंद से;
तासके अभ्यासतें विकास भेदज्ञान होत,
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुंदकुंद से;
देत हैं अशीस शीस नाय इंद चंद जाहि,
मोह-मार-खंड मारतंड कुंदकुंद से;
विशुद्धि बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि-सिद्धिदा,
हुए न, हैं, न होहिंगे मुनिंद कुंदकुंद से।

(कविवर वृंदावनदासजी)

भावार्थ—श्री कुंदकुंदाचार्यदेव के चंद्रसमान मुख कमल से तेजपुंज एवं स्याद्वादमय जिनेश्वर की वाणी का प्रकाश हुआ; जिसके अध्ययन से भेदज्ञान का विकास होता है; कुबुद्धि-मूढ़ जीव उन कुंदकुंद भगवान को नहीं देखते अर्थात् उन्हें नहीं जानते।

कैसे हैं श्री कुंदकुंदाचार्य ?—कि मोह और कामवासना को नष्ट करने में सूर्य समान हैं और चंद्रलोक के स्वामी इन्द्र अपना मस्तक झुकाकर जिनका गुणगान करते हैं। विशुद्धि एवं बुद्धि को बढ़ानेवाले तथा प्रसिद्ध ऋद्धि-सिद्धि के दाता ऐसे श्री कुंदकुंदाचार्यदेव के समान मुनिवर-आचार्य-न तो हुए हैं, न हैं और न (यह अवसर्पिणीकाल में) होंगे।

सूचना

पाठकगण से निवेदन है कि — इस अंक में मैटर कुछ कम दिया गया है, जिसका कारण यह है कि—हमारे माननीय अनुवादक श्री मगनलालजी कार्यवश अनुवाद का काम कम कर सके थे, अत: आगामी अंक में मैटर ज्यादा दे दिया जायेगा। *—प्रकाशक*

★

पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन पुन: शुरु

हर्ष है कि—सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन पुन: तारीख ५-३-६२ से शुरु हो गये हैं। मोतियाविंद के आपरेशन के बाद अब नेत्र ज्योति संपूर्ण रूप से ठीक हो गई है।

★

अपूर्व अवसर नया प्रकाशन

(श्रीमद् राजचंद्रजी कृत एक महान काव्य) इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन हिन्दी में छप रहे हैं, जो मार्च महीने के अंत में तैयार हो रहा है।

★

श्री समयसार (परमागम शास्त्र)

सुंदर ढंग से छप रहा है। इस ग्रंथ में गाथाएँ रंगीन स्याही से छप रही हैं। कई मुख्य गाथाएँ सुनहरी स्याही से भी छप रही हैं। इस बार का प्रकाशन बढ़िया कीमती कागज पर लागत से भी कम मूल्य में सस्ता होगा। जिज्ञासुओं की माँग बहुत होने से निवेदन है कि - वे धैर्य रखें। *—प्रकाशक*

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
नियमसार	५ ॥)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।।)	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	छहढाला (नई टीका)	॥।–)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	समाधितन्त्र	२ ।=
प्रवचनसार	५)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
अष्टपाहुड़	३)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–	
द्वितीय भाग	॥–)	७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)	शासन प्रभाव	=)
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।